प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

प्रास्ताविक :

साहित्य समाज का दर्पण होता है, इसिलिए साहित्य में समाज की खुशी-गम, प्रकृति विकृति, प्रेम-घृणा, संतोष-आक्रोश और पूजन-प्रताड़न आदि से संबंधित सभी प्रवृत्तियों एवं पहलूओं का निरूपण मिलना स्वभाविक ही है । दर्पण का उपयोग साज-सज्जा में श्रृंगार में होता है, इस दृष्टि से इस साहित्यिक दर्पण का प्रयोग भी सामाजिक परिमार्जन के लिए अपेक्षित बन जाता है। सुंदरता बढ़ाने के लिए दाग-धब्बों को दूर करना अनिवार्य होता है इसिलिए साहित्यिक प्रतिबिंबन के खुशी, प्रकृति, प्रेम, संतोष, पूजन आदि पहलुओं के साथ साथ दुःख, पीड़ा, विकृति, घृणा, आक्रोश, प्रताड़न के दाग-धब्बों पर गौर करना भी अनिवार्य बन जाता है । साहित्य में सामाजिक मूल्यों का तादृश चित्रण होता है और समाज की प्रत्येक गतिविधि साहित्य को आंदोलित करती है। अतः सामाजिक परिमार्जन के लिए साहित्य सर्वश्रेष्ठ औज़ार प्रतीत होता है।

1.1 दलित साहित्य

'दलित साहित्य' की अवधारणा को समझने हेतु 'दलित' एवं 'साहित् ' दोनों को पृथक करके प्रयास करना जरुरी जान पड़ता है। 'दलित' शब्द का अर्थ होता है दबा हुआ, कुचला हुआ, रौंदा हुआ । 'दलित' शब्द दलन, दमन और शोषण का सूचितार्थ है। अतः जिसका शोषण हुआ हो, जिसे दबाया-कुचला गया हो, जो उत्पीड़ित, उपेक्षित और घृणित हो उसे दलित कहा जाएगा। 'माताप्रसाद' ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा' में दलित शब्द के अनेक प्रयोगात्मक अर्थों की चर्चा की है जिनमें चाण्डाल, अस्पृश्य, अछूत आदि शब्द शामिल है, साथ ही

साथ उपेक्षित, अपमानित, उत्पीड़ित, प्रताड़ित आदि शब्दों की भी चर्चा की है। [1] 'दलित' मूलतः संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ होता है पिसा हुआ या कुचला हुआ, परन्तु आज के समय की सबसे दुःखद विडंबना है कि जैसे ही 'दलित' शब्द का उच्चारण होता है तो एक ऐसी जाति के समुदाय का चित्र उपस्थित होता है, जो सवर्ण नहीं है। आज के संदर्भ में दलित शब्द का आशय समाज के उन सभी वर्गों तथा जातियों से है जो सदियों से भारतीय जाति, धर्म एवं व्यवस्था के नाम पर सत्ताधारियों एवं सवर्णों के द्वारा शोषित, प्रताड़ित एवं दमित होते आये हैं ।

जवाहरलाल नहेरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्रोफेसर चमनलाल भारतीय समाज की कुछ जातियों के दलितिकरण को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखते है। उनका कहना है कि - "भारत में आर्य-अनार्यों में भयानक संघर्षों के बाद आर्य जीते तो उन्होने विजित जातियों-अनार्य, दास, असुर, दस्यु एवं आदिवासियों को शूद्र बना डाला । सो भारतीय समाज में दलित थे नहीं, वे एक सामाजिक प्रक्रिया में भारत के मूल निवासियों से ही अप्राकृतिक रूप से क्रूर सत्ता व दमन का प्रयोग कर 'दलित' बनाए गए।" [2] डॉ. श्योराज सिंह बेचैन के अनुसार- "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है।" [3]

भारतीय समाज में सवर्ण चाहे कितना ही निर्धन हो, कितना ही दीन-हीन हो, कितना ही प्रताड़ित हो मर्दित हो लेकिन उसे दलित नही माना जाता है। इसिलिए डॉ. अम्बेड़कर का कहना है कि –

> "एक सवर्ण हमेशा सवर्ण रहता है / एक अछूत हमेशा अछूत रहता है,
> एक ब्राह्मण हमेशा ब्राह्मण रहता है / एक भंगी हमेशा भंगी रहता है।
> नीतिवान अछूत भी नीचा है हीन सवर्ण से
> धनवान अछूत भी नीचा है, धनहीन सवर्ण से।" [4]

अर्थात् गैर सवर्ण या अछूत ही दलित है। 'दलित' शब्द साहित्य के साथ जुड़कर एक ऐसे साहित्य को सूचित करता है, जो इन्हीं अछूतों के दु:ख-दर्द, सम्मान-अपमान पीड़ा और वेदनाओं को वाचा देता है। 'दलित साहित्य' शब्द सुनते ही मनमें

प्रश्न उठता है कि- क्या साहित्य भी 'दलित' हो सकता है ? साहित्य में पिछड़ा साहित्य या कुचला हुआ साहित्य भी अस्तित्व रखता है ? अत्यंत सोचने पर सिर्फ़ एक ही आश्वासन मिलता है कि पिछड़े लोगों का पिछड़े लोगों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य के नाम से जाना जाता है।

अलग-अलग विद्वान दलित साहित्य को अलग-अलग तरीके से व्याख्यायित करते हैं । प्रमुख दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि-दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर (Mass literature), सिर्फ़ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन (Literature of Action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरुध्ध आक्रोशजनित, संघर्ष है । इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य । "[5] प्रो. चमनलाल का मानना है कि – "दलित साहित्य वह साहित्य है, जो दलितों के जीवन, उनके सुख-दुख, उनकी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों, उनकी संस्कृति, उनकी आस्थाओं-अनास्थाओं, उनके शोषण व उत्पीड़न तथा इस उत्पीड़न-शोषण के दलितों द्वारा प्रतिरोध की परिस्थितियों को व्यापकता तथा गहराई के साथ कलात्मकता से प्रस्तुत करता है ।"[6] दलित चिन्तक कंवल भारती की धारणा है कि - " दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है, अपने जीवन-संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है ।"[7] मराठी कवि नारायण सूर्वे का कहना है कि- दलित साहित्य संज्ञा मूलतः प्रश्न सूचक है। महार, चमार, माँग, कसाई, भंगी जैसी जातियों की स्थितियों के प्रश्नों पर विचार तथा रचनाओं द्वारा उसे प्रस्तुत करने वाला तथा रचनाओं द्वारा उसे प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।"[8]

डॉ. श्योराज सिंह बेचैन इसे अपमानित अछूतों की शब्दबध्ध छटपटाहट का रूप मानते हैं । शरणकुमार लिम्बाले के अनुसार- " दलित साहित्य अपना केन्द्र बिंदु मनुष्य को मानता है। इसलिए दलित साहित्य की वेदना 'मैं' की वेदना नहीं, वह बहिष्कृत समाज की वेदना है ।" बाबुराव बगुल का कहना है कि- "दलित साहित्य

वह लेखन है, जो वर्णव्यवस्था के विरोध में और उसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत मनुष्य के प्रति प्रतिबध्ध है।"[9] डॉ. नरसिंहदास वणकर का मानना है कि "दलित साहित्य में मानवीय संवेदना का प्रस्फुटन होता है। इनके भाव पक्ष में जातिवाद, द्वेष, अलगतावाद या किसी के प्रति नफ़रत नहीं है। इसके केन्द्र में केवल मानव है ।" [10]

दलित साहित्य का चालक बल, प्रेरणा स्त्रोत डॉ. बाबा साहब आंबेडकर का मानवतावादी स्वर है। हर दबा हुआ, कुचला हुआ और प्रताड़ित मानव दलित है। अतः उन्ही की संवेदनाओं का साहित्यिक प्रस्तुतीकरण दलित-साहित्य कहा जाना चाहिए। दलित साहित्य की प्रवृत्तियाँ जैसे चीख-पुकार, भोगे हुए यथार्थ का तत्सम चित्रण और साथ ही साथ आक्रोश, विद्रोह एवं मुक्ति की छटपटाहट को देखते हुए यह साहित्य सच्चे अर्थों में सामाजिक परिमार्जन का अत्यंत महत्वपूर्ण औज़ार प्रतीत होता है ।

1.2 दलित साहित्य का प्रादुर्भाव

प्राचीन काल में संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में उच्च वर्ग एवं सत्ताधारियों के गुणगान का संख्यातीत साहित्य प्राप्त होता है । मनु की वर्ण व्यवस्था ने बड़ी आसानी से मनुष्यों को ऐसे वर्गों में विभक्त कर दिया था , जिसका कोई मानवोचित आधार नहीं था । उच्चवर्ण में जन्म लेनेवाला निर्धन या हीन , दुष्ट या मुर्ख भी पूजा जाता था और निम्नवर्ण का विद्वान भी दुत्कारा जाता था । इस्लामी आक्रमण से हिन्दू धर्म एवं समाज व्यवस्था खतरे में पड़ी और तब इससे उबरने के लिए इश्वर को गुहारें लगाई गई और साहित्य में आध्यात्म का प्रभाव बढ़ा । यह वही भक्तिकाल था जो हिंदी साहित्य का सुवर्णयुग कहलाता है । इस्लामिक आततायों से बचने के लिए हिन्दू समाज को जाति-पांती को भूलकर एक होना अपेक्षित था, लेकिन जहाँ साहित्य में आध्यात्म एवं भगवान् या ईश्वर का प्रवेश हुआ वहीं उसी वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव भी बढ़ा जिसे धार्मिक ग्रंथों की पुष्टि प्राप्त थी । अवतारवादी सगुण साहित्य इससे

प्रभावित हो रहा था जिसके कई उदाहरण रामायण एवं महाभारत में भी प्राप्त है । रामायण में जहाँ ढोल, शूद्र, पशु और नारी को समान मानते हुए उन्हें ताड़न के ही अधिकारी बना दिया गया, वहाँ महाभारत में राजसूय यज्ञ के अवसर पर भोजन के पश्चात जूठे बर्तनों को उठाने के कार्य को शूद्रोचित कर्म कहकर ठुकरा दिया गया ।

लेकिन निर्गुण भक्तिधारा के साहित्यकारों को यह बात हजम नहीं हुई । उन्होंने मानव को केंद्र में रखकर उसको सही राह दिखाने का प्रयत्न किया । सामाजिक विषमताओं एवं धार्मिक ढकोसलों को आड़े हाथों लेकर सामाजिक क्रांति के द्वारा समाज सुधारणा का कार्य इन संत कवियों ने अपने ऊपर ले लिया । वर्ण-व्यवस्था को आधार बनाकर अधिकारपूर्वक निम्न जाति के लोगों का प्रताडन , इन संत कवियों के लिए एक भयानक सामाजिक दूषण था । और साथ-साथ यह संत कवि भी उन्ही अछूत और निम्नजाति के होने के कारण इन्होने अपनी आपबीती को धार्मिक रूप में अपनी वाणी में प्रस्तुत किया । प्रो. चमनलाल के अनुसार-" सिद्ध-नाथ परंपरा से लेकर चौदहवीं-सोलहवीं सदी के बीच के भक्तिकाल में अनेक ऐसे संत एवं भक्त कवि हुए जिन्होंने अपने जीवन की दलित पृष्ठभूमि व अनुभवों को धार्मिक रूप में अपनी वाणी में प्रस्तुत किया ।" [11]

कबीर और रविदास के साथ-साथ सेन, नामदेव, सधना , त्रिलोचन, रज्जब , गरीबदास आदि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में दलित जीवन की यातनाओं का बेबाक एवं तटस्थ चित्रण किया । कबीर निर्गुणवादी और रविदास सगुण मार्गी थे लेकिन दोनों की रचनाओं की आतंरिक विषय वस्तु में कोई तात्विक अंतर नहीं था। कबीर की वाणी में विद्रोह का स्वर प्रबल था और नंगा सच वर्णित था। शायद इसिलिए साहित्यिक सौंदर्यशास्त्रियों को कबीर की अपेक्षा रविदास की वाणी मधुर एवं निरीह लगती है । जबकि वास्तविकता यह थी कि दोनों का अंदाजे-बयाँ ही अलग था । इन निम्नवर्ग के अनेक कवियों की रचनाओं को सिखों के पाँचवे गुरु, गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित धार्मिक एवं साहित्यिक संकलन ग्रंथ- 'आदि ग्रन्थ' या 'गुरु

ग्रंथ साहिब' में स्थान मिला। इतना ही नहीं सन् 1699 की बैसाखी पर खालसा पंथ के सृजन के समय पँचप्यारों के रूपमें निम्नजाति के व्यक्तियों को चुना गया।

भारतीय समाज वेदों के समय से ही जाति के आधार पर विभाजित रहा है। उस समय की वर्णव्यवस्था जाति और पेशा दोनों पर आधारित थी लेकीन जैसे-जैसे समय बितता गया। यह उन दोनों आधारों से चलित होकर सिर्फ़ जन्म आधारित रह गयी। और शूद्रों की संतानों को इसी व्यवस्था के चलते उच्च वर्गों से दूर रहने पर मजबूर होना पड़ा। बाद में अस्पृश्यता के दंश से इनका जीवन अनेक प्रकार की यातनाओं से भर गया। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसी अमानवीय जाति व्यवस्था को 'उचित' ठहराने के लिए हिन्दु धर्म के अनेक धर्मग्रन्थों और स्मृतियों की रचना की गयी। दलित जिस धर्म को अपनी प्राणाधार शक्ति मानता था, जिस धर्म के प्रति वह समर्पित था वही धर्म उसे यातनाओं के समुद्र में धकेल रहा था और उच्च वर्गों को उत्पीड़न का अधिकार दे रहा था। सदियों से दलित स्पृश्यता एवं सहानुभूति की तलाश में भटकता रहा है। और इसी तलाश का प्रतिफलन है धर्मांतरण। दलित सदियों से तिरस्कृत होता रहा है, जिसका आधार ही वेद-पुराण एवं धर्मशास्त्रों को बताया जा रहा है। इसिलिए इस अमानवीय एवं जानवरों से भी बदतर जीवन से छुटकारा पाने के लिए धर्मांतरण ही सही विकल्प के रूप में उभरकर सामने आया। अस्पृश्यता के दंश से पीड़ित होकर शूद्र अन्य धर्मों-इस्लाम, बौध्ध आदि के अनुयायी बनते रहे।

समाज की ऐसी अमानवीय मान्यताओं का प्रतिबिम्बन साहित्य में होना तो स्वाभाविक ही था और वही काम भक्तिकालीन कवियों के द्वारा किया गया है। निम्न वर्ग के इन भक्तकवियों ने अपनी जाति के लिए शर्म महसूस न करते हुए जाती-व्यवस्था का सशक्त विरोध किया। आधुनिक दलित साहित्य भी इसी वर्ण-व्यवस्था का विरोधी है, इस रूप में आधुनिक दलित साहित्य की जड़ें कबीर और रविदास की

वाणी में देखी जा सकती है । और यही साहित्यिक आन्दोलन आगे चलकर 1960 के आसपास मराठी साहित्य में दृष्टिगत होता है। अगर इस दृष्टि से देखा जाए तो आधुनिक दलित साहित्य का आरंभ कबीर और रविदास से माना जाना चाहिए और वहीं से दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन करना उचित जान पड़ता है।

1.3 दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र

सौंदर्य का संबंध सुन्दरता से है। अतः सुन्दरता की मौजूदगी सौंदर्य विवेचन के लिए अनिवार्य बन जाती है। दलित साहित्य में आक्रोश विद्रोह एवं पीडाओं का बयान होता है, इसलिए उसमें आम लोगों पर संमोहनी डालनेवाली रमणीय शब्दावली का अभाव तो स्वाभाविक ही है। दलित साहित्य में आक्रोश का स्वर अधिक तीव्र है जबकि प्रायः लोगों की आदत साहित्य में करुणा और सहानुभूति खोजने की होती है। आक्रोश में प्रायः आवाज़ कर्कश हो जाती है और स्वर सधा हुआ नहीं रहता। इसलिए जो लोग साहित्य में सधे हुए स्वर और सुरीली आवाज़ की खोज करतें है वे लोग दलित साहित्य से निराश होते है। ऐसे लोगों से ग़ालिब के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि -

फरियाद की कोई लै नहीं है / नाल: पाबंद - ए - नै नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि फरियाद किसी लय की मोहताज नहीं होती और आर्तनाद के लिए बाँसुरी की ज़रूरत नहीं होती।

साहित्य का अर्थ केवल सुंदर शब्दावली नहीं होता, उसकी प्रासंगिकता एवं उसका यथार्थ बोध ही उसे अर्थपूर्णता के शिखर तक पंहुचा सकता है । कल्पना और आदर्श के विस्तृत व्योम में स्वैरविहार करनेवाला साहित्य कभी-भी किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं बन पाता। तत्कालीन समाज की दारुण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती हैं इसीलिए तो कबीर की रचनाएँ आज भी प्रासंगिक दिखाई देती है. क्योंकि उसमें सामाजिक एवं वैचारिक यथार्थ परिलक्षित होता है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो दलित साहित्य का सबसे अहम् पहलू, उसका सामाजिक यथार्थ ही उसकी सुंदरता का परिचायक माना जाना चाहिए। दलित साहित्य प्रणय के रंग में रंगी श्रृंगार कल्पनाएँ नहीं है । दलित साहित्य आत्मक्रंदन से कहीं ज्यादा सामाजिक यथार्थ का बेबाक चित्रण ही जान पड़ता है।

दलित साहित्य की प्रासंगिकता उसके मिथकों के नए अर्थघटन पर भी निर्भर देखी जाती है। दलित साहित्य का नायक उच्च वर्ग का राजा या अमीर ज़मीनदार या मंत्री नहीं बल्कि दारुण यातनाओं को सहता आम इंसान है। दलित साहित्यकारों का मानना है कि सवर्ण साहित्य जिनके नायक उच्चकुल के या राजे-महाराजे ही हुआ करते थे, वे उनकी कायरता, छल-कपट और धूर्तता को वैध ठहराने के लिए अधिक थे, साहित्यिक ज़रूरत के लिए कम। "उदाहरण स्वरूप एकलव्य के अंगूठा कटवा लेने को अभिजात साहित्यकारों द्वारा द्रोणाचार्य का छल न कहकर, उसे एकलव्य की गुरुभक्ति बनाकर महिमा-मंडित किया जाना अथवा युधिष्ठिर को सत्यवादी और वीर कहकर उसके 'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा" के असत्य और कायरता को छिपाना।"[12] दलित साहित्य में ऐसे मिथकों के लिए कोई स्थान नहीं है, जो जूठी प्रशंसा, अतिशयोक्ति और झूठे गौरव के लिए गढ़े गए थे। ऐसे यथार्थ से कोशों दूर मिथक साहित्य को सौंदर्यवान तो बना सकता है लेकिन प्रासंगिक नहीं ।

अभिजात साहित्य और दलित साहित्य के इस मूलभूत अंतर को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अभिजात साहित्य का सौंदर्य शास्त्र दलित साहित्य की कसौटी नहीं बन सकता, या यूं कहें कि इसके लिए वह सर्वथा अयोग्य है। और इसिलिए ओम प्रकाश वाल्मीकि जैसे साहित्यकार दलित साहित्य के लिए एक अलग सौंदर्य शास्त्र की माँग करते हैं। क्योंकि 'वाक्यं रसात्मक काव्यं' यहाँ संभव नहीं है।

जो साहित्य दलित, शोषित एवं पीड़ित लोगों की आत्मानुभूति को व्यक्त करता है, उसमें रमणीय एवं संमोहक तथा काव्य शास्त्र के जटिल नियमों से लदी हुई

शब्दावली की तलाश ही मूर्खता मानी जानी चाहिए। क्योंकि यह विद्रोह, विरोध, एवं विक्षोभ का बेबाक चित्रण है, अतः इसकी प्रहार क्षमता ही इसका सौंदर्य है। “दलित साहित्य का शब्द सौंदर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं / प्रहार क्षमता ही दलित साहित्य का शिल्प-सौंदर्य है।” [13] इसकी एक बानगी देखिए ,

सी.बी. भारती कहते हैं कि -

तुम फैलाते रहे गंदगी / और मैं करता रहा सफाई / चलाता रहा अपना झाडू / तुम फैलाते रहे घृणा / और मैं बाँटता रहा प्यार / मैंने उठा ली है अपनी कलम / झाडू के बदले करेंगे साफ तुम्हारी गंदगी / बचायेंगे हम टूटी एकता को।”[14]

दलित साहित्य आत्मानुभूति को अभिव्यक्त करता है, इसिलिए उसमें शाब्दिक चमत्कारों का अभाव स्वाभाविक ही है और वैसे भी ऐसी प्रवृत्तियाँ उसका उद्देश्य भी नहीं है। अर्थगाम्भीर्य का निर्वहन ही उसकी प्राथमिकता है, शिल्प और सौंदर्य दूसरे स्थान पर आते हैं । उपभोक्ता को रसास्वादन करवाना दलित साहित्य का उद्देश्य नहीं है, उपभोक्ता की आँखे खोलना एवं अपने प्रतिरोध की सार्थकता ही उसकी प्राणाधार शक्ति है, और उसी पर दलित साहित्य टिका हुआ है।

दलित साहित्य में नित नयी रचनाएँ आ रही हैं। नये-नये लेखक, साहित्यकार अपना यथायोग्य योगदान दे रहे हैं । अतः दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप भी इससे प्रभावित हो रहा है। “ दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा और साहित्य के सौंदर्य शास्त्र के विकास पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा । ” [15]

श्री शरण कुमार लिम्बाले द्वारा प्रस्तुत कुछ सूत्र यहाँ पर विचारार्थ प्रस्तुत करना उचित समझूँगा ।

1. दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का आधार अध्यात्मवाद न होकर भौतिकवाद है।
2. आम्बेडकरी विचार उसके केन्द्र में होगा।

3. मानव समता ,स्वतंत्रता , न्याय और प्रेम के सामाजिक मूल्यों को कला के रूपमें ढाला जाएगा ।
4. समता ,स्वतंत्रता व बंधुत्व के जीवन-मूल्य दलित साहित्य के सौंदर्य तत्व होंगे।
5. दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र जीवनवादी होगा । '' [16]

1.4 दलित साहित्य के रचनाकार

दलित साहित्य कौन लिख सकता है ? सवर्ण या गैर-सवर्ण ?

दलित साहित्य का लेखक कौन हो ? यह विवाद आज भी अभिजात्य वर्ग के साहित्यकारों के लिए ढाल बना हुआ है ,और प्रतिभासंपन्न दलित साहित्यकारों के मार्ग की बाधा । 'दलित' ऐसा शब्द है जिससे हर कोई बचना चाहता है ,चाहे वह आम आदमी हो या साहित्यकार । इसिलिए तो आलोचकों का एक वर्ग यही मानता है कि यह दलित लेखन क्या होता है ? क्या लेखक भी दलित-गैर दलित ऐसा हो सकता है ? रचनाकर्म में भी ऐसी खेमेबंदी क्यों ? उनका स्पष्ट रूप से मानना है कि गधे के बारे में या घोड़े के बारे में लिखने के लिए गधा या घोडा बनना या होना जरूरी नहीं है। लेकिन ये विद्वान यह बात भूल रहे है कि गधे या घोड़े का रूप-रंग का वर्णन तो कोई भी कर सकता है लेकिन दिनभर का थकाहारा, रस्सी से बंधा और बौज ढोने के बावजूद उपेक्षितों की जिंदगी जीता वह गधा अपने मालिक के प्रति कैसा भाव रखता है, उसकी पीड़ा और वेदना से तप्त मानसिकता का वर्णन बाहरी रूप रंग से नहीं हो पाता। प्रेमचंद कि 'दो बैलों की कथा' भी सिर्फ़ अनुमान एवं सहानुभूति से लथपथ ही बन कर रह जाती है। ऐसा बाह्य वर्णन सिर्फ़ सहानुभूति और करुणा की उपज हो सकता है क्रांति का इच्छुक साहित्य नहीं।

जिस प्रकार प्रसव की पीड़ा का वर्णन अविवाहित स्त्री नहीं कर सकती, उसी प्रकार दलित जीवन कि विडंबनाओं एवं विभेदों को जीए बगैर उसके बारे में लिखना असंभव-सा जान पड़ता है । क्योंकि "दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है । वह अपने निजी दुःख से ज्यादा समाज की पीड़ा को

महत्ता देता है। सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है। अपने समाज के दुःख-दर्द उसे ज्यादा पीड़ा देता है। उनके उन्मूलन के लिए ही उसने लेखन का रास्ता चुना है। अपनी अभिव्यक्ति में वह समाज की पीड़ा उकेर रहा है। इसीलिए वह ज्यादा प्रमाणिक है।'' [17]

प्रामाणिकता साहित्य की प्राणाधार शक्ति है। प्रामाणिकता एवं यथार्थ बोध ही साहित्य को प्रासंगिकता प्रदान करते हैं । यदि सवर्ण दलितों के बारे में लिखेगा तो निः संदेह उसमें वही शब्दों की मोहमयी मायाजाल के साथ-साथ दलित जीवन की नारकीय स्थितियों, उनके प्रति बरते जाने वाले सामाजिक भेदभाव एवं उनके उत्पीडन पर आँसुओ की नदियाँ बहा दी जाएँगी और दया भावना का परोक्ष प्रदर्शन किया जायेगा इसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु सहसा उन्हें जब यह ज्ञात होगा कि इस उत्पीडन एवं यातनाओ को अंजाम देनेवाले सवर्ण ही है, तो उस वक्त कहीं न कहीं उसका ज्ञातिबंधु के प्रति विशिष्ट लगाव या पक्षपात तो जरूर आकार लेगा। और तब उस लेखन की प्रामाणिकता संदेह के दायरे में आ जाएगी। इसीलिए तो " बदलाव या क्रान्ति की स्थितियाँ आने से पूर्व ही या तो ऐसे रचनाकार पाला बदल लेते हैं या फिर यथास्थिति बनाए रखने में मदद करते हैं । प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का नायक परिवर्तन बिंदु पर पहुँचते ही वह पलायन कर जाता है या समझौता करके आदर्शवाद का उदाहरण बन जाता है ।" [18] अतः साहित्य की प्रामाणिकता में भी अंततः वही ज्ञातिप्रेम ही बाधक बनता है।

साहित्य रचना के आवश्यक तत्वों में स्वानुभूति ही सहानुभूति से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। इसीलिए मुद्राराक्षस, मार्क्सवादी चिंतक शिवकुमार मिश्र, राजेन्द्र यादव, डॉ.मस्तराम कपूर आदि जैसे हिंदी साहित्यकार दलित लेखन के लिए दलित रचनाकार की आवश्यकता के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत करते हैं ।

मुद्रा राक्षस कहते हैं कि - "सवर्ण बुध्धिजीवी की समूची करुणा में कहाँ सूराख़ रह जाता है और कहाँ वह अन्ततः करुणा से अधिक सामन्ती उदारता बन जाती है, यह सिर्फ़ दलित ही जान सकता है।" [19] शिवकुमार मिश्र भी इसी तरह का

मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि -“सवर्ण साहित्य में वसुधैव कुटुम्बकम् का मुखौटा लगाए, अपराध करती अभिजनो की संस्कृति और आचरण को असलियत में दुःख, ग्लानि, पश्चाताप, और सात्विक आक्रोश के साथ, समूचे विश्व के समक्ष उजागर करने का जो नैतिक दायित्य था, तथा दलितों के वजूद, उनकी सामाजिक हैसियत उनके संघर्ष, उनके श्रम, उनके अधिकारों और उनकी आकाक्षाओं के बरक्स जिस पक्षधरता के साथ, सवर्ण मानसिकता और उसे पोषित करनेवाले विधानों के खिलाफ रचनात्मक हस्तक्षेप, जिस रचनात्मक मुठभेड़ की दरकार थी, वह सब पूरी सदी के भारतीय परिदृश्य में नहीं हो सका। ” 20

डॉ. मस्तराम कपूर भी इसीमें अपनी सहमती जताते हुए मानते हैं कि सवर्ण साहित्य में दलित पात्रों का प्रयोग सिर्फ़ करुणा ज़माने के लिए या एकतरह से उनकी उदारता के प्रस्तुतिकरण हेतु ही होता आया है।“ हिंदी में दलित पात्र भी अधिकतर सवर्णों के निमित्त है। या तो वे सवर्णों में करुणा ज़माने के लिए है या उनका संस्कार करने के लिए, उनकी उदारता महानता या नीचता दिखाने के लिए। दूसरे शब्दों में वे ‘सब्जेक्ट’ नहीं बने ‘ऑब्जेक्ट’ ही रहे।” 21

इसमें तो दो राय नहीं हो सकती है कि दलित साहित्य कला के लिए साहित्य नहीं है, जीवन के लिए साहित्य है, यह मुक्ति की छटपटाहट से निर्मित आजादी का आन्दोलन है, जन आन्दोलन । इसीलिए इस साहित्य की रचना के लिए सिर्फ़ सहानुभूति ही काफ़ी नहीं है। यह साहित्य कल्पना की उड़ान भरकर दुनिया के तमाम का यथार्थ को देख लेने का भ्रम नहीं पालता, उसके पीछे भोगा हुआ यथार्थ, ठोस भौतिक वजहें भी होती हैं । और ऐसे लेखन के लिए सहानुभूति की अपेक्षा स्वानुभूति का विशिष्ट महत्व है, क्योंकि यही स्वानुभूति उसकी छटपटाहट की प्रेरणा शक्ति है । जो दलितेतर साहित्य में असंभव है। डॉ. राजेन्द्र यादव इसे स्वीकारते हुए कहते हैं कि” हिंदी साहित्य में बराबरी का आश्वासन, अपमानजनक शब्दों को बदलने की ज़रूरत, सबको गले लगाने की उदारता तो बहुत है, मगर

स्थिति के मूल तक पहुंचकर उसे बदलने की तड़प नहीं है। इसलिए भाषा में वह विश्वनीयता, ऊर्जा और तेवर नहीं है, जो एक भुक्तभोगी की भाषा में होता है ।" [22]

दलित साहित्य की प्रकृति और उसकी भूमिका को ध्यान में रखकर हम इतना तो जरुर कह सकते हैं कि इसमें तड़प, आक्रोश एवं क्रांति की अपेक्षा मूलभूत तत्वों के रूप में उभरकर आते है । अत: दलित साहित्य के लिए दलित रचनाकार की आवश्यकता के प्रश्न को भले ही सवालों के घेरे में रखकर ख़ारिज किया जाए, लेकिन इस तथ्य से भी कोई मुँह नहीं मोड़ सकता कि महानगरीय व्यस्तता या विश्वविद्यालयों के बंध कमरों में बहस करनेवाले रचनाकार, दलितों की संघर्षशीलता, उसकी पीड़ा, व्यथा और जीवन की आतंरिक विषमताओं को किस हद तक वाचा दे सकते हैं ? उन सवर्ण रचनाकारों के सामाजिक सरोकार इस पीड़ा को समझने में कितनी मदद करेंगे ?

स्वानुभूति से दूर खड़ा व्यक्ति सिर्फ़ आंसू टपकाकर अपनी संवेदनाएं प्रकट कर सकता है। समीक्षक मेनेजर पांडेय इसीलिए तो कहते हैं कि "राख ही जानती है जलने का दर्द, दलित होने की पीड़ा सिर्फ़ दलित जानता है ।" [23]

1.5 दलितोद्धार के प्रयत्न

वर्ण-व्यवस्था की अव्यवस्था से पीड़ित एवं दमित दलितों के उत्थान हेतु भारतीय समाज में कुछ प्रयास, कुछ आंदोलन अवश्य हुए हैं , लेकिन उसकी सफलता आज तक संदिग्घ है। हम छाती ठोककर यह नहीं कह सकते कि हम उस प्रयासों के फल-स्वरूप आज दलित उस वर्ण-व्यवस्था के दल-दल से पूरी तरह आज़ाद एवं मुक्त हो चूका है । फिर भी कुछ व्यक्तित्व आज भी हमारे सामने उभरकर आते हैं ,जो दलितों की अब तक की विकास यात्रा के आधार स्तंभ एवं प्राणाधार शक्ति के रूप में प्रस्थापित है । इनमें से कुछ प्रमुख महामानवों के जीवनकर्म को रेखांकित करना आवश्यक समझूँगा ।

1.5.1 डॉ . बाबा साहब आंबेडकर

14 अप्रैल 1891 को मध्यप्रदेश के इन्दौर के नजदीक महू में जन्मे भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता, देश के पहले कानून मंत्री, नारी जाति के मुक्तिदाता और सिर्फ़ दलितों के ही नहीं पूरे भारत के मसीहा डॉ. बी.आर. आम्बेडकर दलितों के प्रमुख उद्धारक है।

भारत की सबसे बड़ी बदकिस्मती यही है की भारतीय समाज डॉ. आम्बेडकर को सिर्फ़ दलितों का मसीहा मानता है, लेकिन सच्चाई तो यह है कि डॉ. आम्बेडकर सिर्फ़ दलितों के नहीं बल्कि समाज के सभी वर्गों के लोगों के लिए मसीहा थे। उन्होंने छुआछूत माननेवाले लोगों का नहीं बल्कि उनको छुआछूत सिखानेवाले शास्त्रों का विरोध किया था। उनका कहना था कि " हिन्दू जात-पांत इसलिए मानते हैं कि वे दिल की गहराइयों से धार्मिक है । इसलिए दुश्मन वे लोग नहीं है जो जात-पांत मानते हैं ,बल्कि दुश्मन वे शास्त्र हैं जो उनको इस जात-पांत का धर्म सिखाते हैं ।" [24]

डॉ.आम्बेडकरने अपने जीवन में वर्ण-व्यवस्था के जिस अनर्थ को भोगा, वही उनके दिल में न केवल प्रतिरोध की चिनगारी बनकर, बल्कि अपने ज्ञाति-बंधुओ के उध्धार का सपना बनकर स्थापित हो गया। उन्होंने दलितों को न सिर्फ़ उनके ऊपर हो रहे अत्याचारों एवं अमानवीय व्यवहारों से परिचित करवाया, बल्कि उन अत्याचारों के जनक कौन है इसकी पहचान करवाई और इतना ही नहीं उन्होंने दलितों को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि वे लोग उन पर ऐसे अत्याचार क्यों कर रहे हैं ? वह कौन-सी वजह है जो सवर्णों के दिल में दलितों के प्रति नफ़रत एवं घृणा पैदा करती है ? उन्होंने यह सिध्ध कर दिया कि भारतीय समाज की ऐसी पैशाचिक मानसिकता के मूल में वही समाज व्यवस्था है, जो मनु के वर्णवादी समाज विभाजन का प्रतिरूप है।

डॉ.आम्बेडकर ने दलितोध्धार को ही अपना जीवन-मंत्र बनाया। अत्यंत कठिन एवं विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए उन्होंने खुद शिक्षा प्राप्त की

और अपनी वैचारिक ताकत के बलबूते पर शिक्षा एवं संधर्ष के द्वारा दलितों में मुक्ति एवं संघर्ष की भावना के प्राण फूंके । इसी प्राणाधार शक्ति के सहारे दलित आंदोलन का प्रारंभ हुआ। " डॉ.आम्बेडकर के तत्व विचारो में तीन प्रमुख सूत्र थे।

1. स्वाभिमान, स्वावलंबन और स्वोध्धार

2. शिक्षा,संगठन और संघर्ष ये मुक्ति के साधन हैं ।

3. मानवीय हक़ एवं अधिकार भीख मांगने से नहीं मिलते, बल्कि उनको पाने के लिए संघर्ष करना एवं लड़ना अनिवार्य होता है। " [25]

सन् 1932 में द्वितीय गोलमेज परिषद् के दौरान जब डॉ.बाबा साहेब आम्बेडकर ने दलितों को आरक्षण का लाभ मिले इस पर अपने विचार रखे तो भारतीय हिन्दू-समाज में उथल-पुथल मच गई। और गांधीजी ने 20 सितम्बर 1932 को दलितों के अलग निर्वाचन के अधिकारों से मतभेद रखते हुए यरवडा जेल में आमरण अनशन की घोषणा कर दी, जिसके परिणामस्वरूप डॉ.बाबा साहेब आम्बेडकर को गांधीजी के साथ पूना एक्ट समझौता करना पड़ा। फिर भी दलितोत्थान का अपना मनसूबा दोहरे उत्साह के साथ पूरा करने में लग गए। उन्होंने कहा कि - " यदि मैं अछूतों का उध्धार न कर सका, सदियों के बुरे संस्कार के फल स्वरूप अछूतों को स्वयं नीच समझने की भावना को नष्ट करके उनको मानवता का पाठ न सिखा सका और छूआछूत ख़त्म करके हिन्दू समाज के अन्याय तथा अत्याचार से अछूत समाज को बचा न सका तो मैं अपना जीवन गोली मारकर ख़त्म कर लूँगा। " [26]

हिन्दू धर्म के अमानवीय व्यवहारों से मुक्ति के लिए उन्होंने धर्मांतरण का रास्ता भी अपनाया। उनका मानना था कि जो धर्म एक मनुष्य को मानवोचित अधिकारों एवं व्यवहारों से वंचित रखने की शिक्षा देता हो, उस धर्म का पालन करने में कोई भलाई नहीं है। इसीलिए हिन्दू-समाज व्यवस्था की दासता से मुक्ति पाने के

लिए सन् 1956 में डॉ.आम्बेडकर ने अपने अनुयायियों के साथ बौध धर्म स्वीकार कर लिया।इस घटना के दो-ढाई महीनों के बाद 6 दिसम्बर 1956 को डॉ.आम्बेडकर का महानिर्वाण हुआ ।

बाबा साहेब के जीवन का मिशन था बहुजन समाज बनाना। वे मानवीय मान-सम्मान की बहाली करना चाहते थे। दलितों के अंदर आत्मसम्मान की तड़प पैदा करना चाहते थे। छूआछूत और हर प्रकार के शोषण को खत्म करना चाहते थे । वे दलित समाज को जागृत करना चाहते थे क्योंकि उन का द्रढ़ रूप से मानना था कि हक्कों और अधिकारों कि रक्षा कानून नहीं, बल्कि समाज की जागृति करती है। आज के समय में भी दलित-दमन के जो किस्से-कहानियाँ हमारे सामने आती हैं , वह इसी जागृति के अभाव का परिणाम है।

दलित-दमन के लिखे जा रहे नए-नए अध्याय जहाँ एक ओर हमें दलितों कि अल्प जागृति का स्पष्ट प्रमाण देते हैं , वहीं यह कड़वा सच भी प्रस्तुत करते हैं कि डॉ.आम्बेडकर का जीवनकार्य 'दलितोध्धार' पूर्ण करने में हम कहाँ तक सफल रहे है, क्या कमियाँ रह गई है, जो अभी भी अपनी पूर्णता के लिए हमारे मानसिक परिमार्जन का इंतजार कर रही है ।

1.5.2 महात्मा गाँधी

दलितों की स्थिति सुधारने के लिए हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी ने भी प्रयत्न किये थे लेकिन वे धर्म के विरुध्ध नहीं जा सके इसीलिए धर्म आधारित मानवता की वजह से वे वर्ण-व्यवस्था का तीखा एवं तीव्र विरोध नहीं कर सके।

शूद्र, चाण्डाल, नीच, स्वपच, अंत्यज आदि घृणा एवं तिरस्कार पैदा करनेवाले नामों से मुक्ति दिलाकर गाँधीजी ने दलितों को ' हरिजन ' का सम्मान एवं गरिमापूर्ण नाम दिया। दलित शास्त्रीय एवं जुगुप्सा प्रेरक 'शूद्र' शब्द से मुक्त हो कर हरिजन कहलाने लगा । ' हरिजन ' अर्थात् भगवान का आदमी, यह एक बहुत ही सुंदर एवं उचित शब्द था। इसमें गाँधीजी के व्यक्तित्व की मिठास झलकती थी ।

उनके विचार से हरिजन उपेक्षा या अपमान का नहीं सेवा का पात्र था लेकिन बदकिस्मती से यह भाव कुछ लोंगो तक ही सीमित रह गया, व्यापक नहीं हो पाया और इसलिए ‘हरिजन’ का अर्थ ही तिरोहित हो गया और समय के चलते यह शब्द तिरस्कार और घृणा का परिचायक ही रह गया।

‘हरिजन’ हमेशा गाँधीजी को प्यारे रहे हैं । आश्रम में जब भी किसी सहायक को रखने की आवश्यकता होती तो वे हरिजन को ही रखने का आग्रह रखते थे । गाँधीजी ने हमेशा सत्य,अहिंसा, अस्तेय के साथ ‘सर्वधर्म समभाव’ की संकल्पना के द्वारा धर्माधिष्ठित मानवता का समर्थन किया। और इसलिए सर्वधर्म समभाव के साथ-साथ मानवीय समभाव को ‘हरिजन’ शब्द के द्वारा प्रचलित करने का प्रयास किया। वे प्रचलित सामाजिक विषमता के विरोधी थे। उनका मानना था कि एक मानव को मानवोचित अधिकारों से वंचित रखकर उसके साथ पशुओं के जैसा व्यवहार करना घोर पाप है। और उन्होंने इस विचार के प्रचार-प्रसार हेतु उपयुक्त एवं यथासंभव प्रयास भी किए।

महात्मा गांधीजी का पहला लक्ष्य था स्वतंत्रता। भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्ति दिलाना उनका जीवन-मंत्र था। इसके लिए वे असंख्य कार्यक्रमों में अत्यंत व्यस्त रहते थे और इसिलिए अछूतोध्धार के समर्थक होते हुए भी वे इस समस्या को उचित प्राधान्य न दे सके और अन्य सभी विधायक कार्यक्रमों में अस्पृश्यता निर्मूलन एक कार्यक्रम ही बन कर रह गया। भारत को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कर सुनहरे भविष्य की और ले जाना उनका प्रथम एवं सबसे प्रमुख लक्ष्य था। इसी वजह से भारतीय समाज की आंतरिक समस्याओं पर वे उपयुक्त कार्यक्रम एवं प्रयास नहीं कर सके। स्वतंत्रता संघर्ष के अनेकविध कार्यक्रमों की भरमार की वजह से अस्पृश्यता, वर्ण-व्यवस्था, धर्मांधता आदि सामाजिक कुरीतियों को अग्रस्थान नहीं दे सके। लेकिन इसका मतलब यह बिलकुल ही नहीं है कि वे दलितोध्धार के विरुध्ध थे । वर्ण-व्यवस्था का समर्थन एवं दलित आरक्षण के विषयों पर डॉ. आम्बेडकर और गाँधीजी के बीच कुछ मतभेद अवश्य थे लेकिन मन भेद नहीं । “बाबा साहेब और

महात्मा गाँधी इन दोनों नेताओं में संघर्ष था, यह आधा सच है, लेकिन स्वतंत्र भारत का चहेरा भविष्य में क्या हो इस बात पर इन दोनों नेताओं की अनकही सहमति थी यह पूरा सच है।" [27] महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज को इस बात की अनुभूति तो जरुर करवाई ही थी कि अछूतों एवं गरीबों के साथ धर्म द्वारा प्रमाणित उसका व्यवहार उचित नहीं है।

1.5.3 ज्योतिराव फूले

अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद भारतीय समाज की जड़ताओं एवं धर्म आधारित कुरीतियों का प्रचलन बाधित हुआ। अंग्रेजों के साथ उनका ज्ञान-विज्ञान एवं उनकी विचारधाराओं का भी भारत में आगमन हुआ और इन विचारों ने भारतीय समाज की अमानवीय परंपराओं एवं मान्यताओं का खंडन किया। भारतीय समाज में धर्म के अंधानुकरण की अपेक्षा सामाजिक समस्याओं को प्राधान्य मिलने लगा। अंग्रेज सरकार जाति भेद की समर्थक नहीं थी अतः ब्राह्मणों और कथित धर्मात्माओं के मुंह बंद हो चुके थे। ऐसे समय में शूद्रों के नेता बने ज्योतिराव फूले। उनकी विचारधारा समानता पर आधारित थी। इसाई मिशनरीओं और ज्योतिराव फूले की वैचारिकता ने दलितों को समाज में मानवोचित सम्मान दिलाने में योगदान दिया। नवजागरण काल के साहित्य ने भी धार्मिक वंदनाओं एवं धर्मात्माओं के गुणगान की जगह सामाजिक विषमताओं एवं कुरीतियों को अपने विषय बनाए।

ज्योतिराव फूले के प्रयासों के परिणाम स्वरूप साहित्य सही मायने में सामाजिक परिमार्जन का औजार बना। अंग्रेजों का इसाई धर्म प्रेम और करुणा तथा समभाव से भरा था। इसलिए उनके शासनकाल में ज्योतिराव फूले के विचारों की अभिव्यक्ति में कोई अड़चन नहीं आयी और उनकी वैचारिकता का साथ पाकर दलितोध्धार का कार्य वेगवंत बना। ज्योतिराव फूले के प्रयासों के फल-स्वरूप शूद्र, चाण्डाल आदि विशेषणों से अपमानित दलित वर्ग समाज में अपने साथ हो रहे

अन्याय एवं अत्याचार का खुलकर विरोध करने में सक्षम बना और समाज को यह बताने की हिंमत जुटा सका कि वे जो कुछ भी हमारे साथ कर रहे हैं वह गलत है । मानवोचित अधिकारों की माँग रूढ़ीचुस्त हिन्दू समाज के सामने रखने में दलित समाज को सहारा दिया ज्योतिराव फूले ने ।

ऐसे तो कई व्यक्तित्व भारतीय समाज में है जिन्होंने दलितोत्थान के संनिष्ठ प्रयास किए जैसे रामाजी पेरियार, राहुल सांकृत्यायन, बसवेश्वर, कबीर, रैदास, दादू, सुन्दरदास, हरिया साहब, तुलसीदास, नरसिंह मेहता, भक्त कवि अखा आदि... सभी समाजसुधारकों ने दलितों की दशा को बदतर से बहेतर बनाने में यथासंभव श्रेष्ठ योगदान दिया । इनकी चर्चा आगे के अध्यायों में की जाएगी ।

1.6 दलितोत्थान : हक़ीकत या भ्रम

अनेक समाज सुधारकों के द्वारा दलितोध्धार के प्रयास कई वर्षों से हो रहे हैं । लेकिन उसकी सफलता आज तक शक या संदेह के दायरे में ही रही है, यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती । दलितों का विकास एवं उनकी प्रगति सिर्फ़ एक दृष्टिभ्रम बन कर रह गयी है । आज दलित अपनी दलितावस्था से ऊपर उठने की कोशिश करता हुआ नजर आता है, शिक्षा एवं प्रतिष्ठित संस्थानों में अपना स्थान बना रहा है । सदियों की बहिष्कृत एवं तिरस्कृत अवस्था से दलित इतना तो समझ ही गया है कि अपने विकास एवं उत्कर्ष के लिए समाज पर निर्भर रहना निरी मूर्खता ही है । अतः दलितों ने अपने संगठन, संस्थाएँ बनाकर अपनी एवं अपने ज्ञातिबंधुओं की स्थिति सुधारने का प्रयत्न शुरू किया है । आज दलित अपनी सदियों पुरानी पहचान अस्वच्छता और अल्पबुद्धि का त्याग कर चूका है साथ ही उसकी वेशभूषा नाम आदि में भी काफी बदलाव आ गए हैं ।

डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय संविधान में दलितों को समान अधिकार देने का स्वीकार हुआ । आरक्षण की वजह से एवं राजनीति में प्रवेश कर दलित और सुधरा हुआ प्रतीत होने लगा है । भारत की प्रधान मंत्री स्व. इंदिरा

गाँधी के समय में LIC, Bank और अन्य बोर्ड कोर्पोरेशन के राष्ट्रीयकरण से शिक्षित दलितों का एक बड़ा वर्ग आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बना है । इस पढ़े-लिखे वर्ग की जागृति से दलित समाज में स्वाभिमान की लहर दौड़ गई है । शिक्षा का भी क्रमशः विकास हुआ है । कितने ही दलित सुख-चैन की जिंदगी जीने लगे हैं ।

उपरोक्त विवरण को यदि भारत भर के दलितों की संख्या के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह हकीकत उभर कर सामने आती है कि भारत-भर के दलितों की तुलना में बहुत कम दलित सुख-संपत्ति और शिक्षा के अधिकारी बने हैं । संविधान ने कानून बनाए हैं लेकिन दुनिया का कोई भी कानून ब्राह्मण को शूद्र के साथ भोजन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता क्योंकि दलितोध्धार के प्रयास संवैधानिक एवं राजनैतिक है, जब कि समस्या सामाजिक है, जो समाज के मानसिक परिमार्जन की अपेक्षा रखती है ।

" वर्तमान समय दलितों के लिए बहुत कठिन है । LPG (Liberalization, Privatization, Globalization) में दलित वर्ग के लिए फिर से संघर्ष का समय आया है । कुछ दलितों की उन्नति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि समग्र दलित समाज की आर्थिक प्रगति हुई है । प्राइवेट में भी आरक्षण होना जरुरी है, क्योंकि हिन्दू ब्राह्मण, सनातनवादियों, कर्मकांडियों की मानसिकता में तनिक भी अंतर नहीं आया है ।पढ़े-लिखे भी हंमेशा ऐसा ही कहते हैं कि-"दलितों को सुधरना चाहिए !!" सामाजिक स्तर पर कितने रूढ़ीचुस्तों के कारण आज भी परिवर्तन स्वीकार करने को तैयार नहीं है, यह आघात जनक है ।

इतने बड़े लोकशाही देश में लगातार दलित अत्याचारों की बातें समूह माध्यम में आती ही रहती हैं, ये बताती हैं, दलितों की आर्थिक, राजकीय परिस्थिति सुधरी है, किन्तु अभी भी व्यापक सामाजिक स्वीकृति मिलना बाकी है ।" [28]

आलम तो यह है कि शिक्षित दलितों को भी जाति-पाँति के नाम पर सताया जाता है । ऑफिस में प्रमोशन, तबादला, महत्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ आदि भी जाति आधारित ही बनी रहती है । बोस से लेकर चपरासी तक यह जानता होता है कि

अमुक 'साहब' दलित है और वे सब अपने व्यवहारों से उसे इस बात की प्रतीति करवाते रहते हैं । और वह बेचारा दलित अपनी झूठी शान को बनाए रखने के लिए चूप ही रहता है । आज के अखबारों के विवाह संबधी विज्ञापन तो जैसे वही प्राचीन मनुवादी मानसिकता के सबसे बड़े उदाहरण है । शादी, व्याह तो जैसे जाति देखे बिना संभव ही नहीं है । आज भी कितने दलित हैं जिन्होंने अपनी निम्न जाति की घोषणा करने के बावजूद बहुत बड़ा सम्मान प्राप्त किया हो ?

आधुनिक समाज में जातिवाद के प्रभाव को स्वीकार करते हुए हमारी पूर्व लोकसभाध्यक्षा श्रीमती मीराकुमार ने कहा कि - "कालचक्र सब कुछ बदल देता है किन्तु काल चक्र ने जातिवाद को नहीं बदला ।" [29] सदियों से जातिवाद से संतप्त दलित समाज अत्याचार से त्रस्त-ग्रस्त है । लोकसभा की अध्यक्षा यदी यह स्वीकार करे तो सवर्ण-समाज को एक वैचारिक आत्म संशोधन करना ही चाहिए । क्या कमियाँ अब भी रह गई हैं कि भारतीय समाज में पिछड़ा वर्ग अभी भी पिछड़ा ही है ? क्यों वह समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सकता है ? आज के शिक्षित, विकसित एवं संस्कृत तथा सभ्य भारतीय समाज में क्यों आज भी दलित दमन के नए-नए अध्याय लिखे ही जा रहे है ? भारत जैसे विश्व के एक बड़े प्रजातांत्रिक राष्ट्र में क्यों आज भी दलितों के दूल्हे को घोड़े पर बिठाकर बैंड बाजे के साथ बारात ले जाने से रोका जाता है ? "क्यों आज भी राजस्थान के दौसा जैसे संसदीय क्षेत्रों में कई बूथों पर दलितों को वोट डालने नहीं दिया जाता ? " [30] क्यों उतराखंड की राजधानी देहरादून के नजदीक प्रसिध्ध हनोल मंदिर में दलितों के लिए एक निश्चित सीमा रेखा तय की हुई है, और धक्का-मुक्की की वजह से एक युवती के द्वारा उस रेखा को पार कर लेने पर क्यों उसके कपड़े फाड़कर जमकर उसकी पिटाई होती है ?" [31] क्यों राजस्थान के भीलवाड़ा जिले की तहसील आसीन के ग्राम तितोली में ग्यारह कुंडीय मारुती नंदन महायज्ञ में दलितों को चाहकर भी सम्मिलित नहीं किया गया ? [32] ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो सिर्फ़ दलितों की आज की

स्थिति ही बयान नहीं करते बल्कि सवर्णों को आत्ममंथन के लिए प्रेरित भी करते हैं । दलितोध्धार या दलित उत्कर्ष के दो विकल्प या दो रास्ते दिखाई देते हैं -
एक प्रायश्चित और दूसरा संघर्ष ।

पहले विकल्प प्रायश्चित के बारे में सोचें तो पहला स्वाभाविक प्रश्न होता है कि प्रायश्चित कौन करें और क्यूँ करें ? सवर्णों को चाहिए कि वे अपने आप को दलित के स्थान पर रखकर सोचें कि उनकी क्या भावनाएँ हैं, क्या यातनाएँ हैं । तभी जाकर उन्हें अपने द्वारा दलितों के साथ किया गया व्यवहार अमानवीय प्रतीत होगा। जब सवर्ण यह सोचे कि - यदि मैं दलित होता तो..??? तो उसी स्वानुभूति में ही उसे वह उत्तर स्वयं प्राप्त हो जाएगा कि प्रायश्चित क्यूँ करें ? दूसरी बात है स्वानुभूति के बाद क्या ? निश्चित ही प्रायश्चित, दलितों से मानवोचित व्यवहार के द्वारा सवर्ण समाज अपने पूर्वजों के पापों को धो सकता है । दलितों को समाज के हिस्से के रूप में स्वीकार करके उनके उत्थान एवं उत्कर्ष हेतु ठोस कदम उठाना और ऐसे माहौल का निर्माण करना जिसमें दलितों को मानवोचित सम्मान एवं अधिकार सहज प्राप्य हो जाए, ही प्रायश्चित का सही स्वरूप है , जो दलितोत्थान के लिए अनिवार्य है ।

दूसरा विकल्प है संघर्ष । यह संघर्ष सवर्णों के खिलाफ़ नहीं लेकिन उनकी मान्यताओं एवं विचारधाराओं के खिलाफ़ होना चाहिए । अलग पक्ष बनाकर बाकी समाज के सामने खड़े हो जाना, उनके खिलाफ वाकयुद्ध में उतरना या सशस्त्र घर्षण इस संघर्ष के लक्षण कभी नहीं होने चाहिए । यदि पढ़ा-लिखा सवर्ण भी दलित संपर्क से बचना चाहता है, तो निश्चित ही उसकी मानसिकता को बदलना जरुरी है, और दलितों का संघर्ष इसी मानसिकता के खिलाफ होना चाहिए । समस्या का समाधान समस्या की जड़ों को नाबूद करने से ही संभव होता है । अतः निश्चित रूप से यह संघर्ष अपने आप से ज्यादा होना चाहिए । दलितों का यह संघर्ष अपने अज्ञान, अशिक्षा, अल्पबुद्धि एवं असंगठितता से ही ज्यादा आवश्यक जान पड़ता है । यदि दलितों का यह संघर्ष सिर्फ़ भूमि पर कब्ज़ा करना या संविधान के प्रावधानों एवं कानूनों का डर पैदा करने तक ही सीमित रह जाए तो यह दुर्भाग्यपूर्ण है ।

दलित उत्कर्ष की श्रेष्ठ परिणति यही होगी कि दलित वह जिस जातिवादी व्यवस्था के शिकार है, स्वयं जातिवादी शामियाने से बाहर आकर एक जाति, एक धर्म की स्थापना करके प्रशासन तथा शासन में अपनी हिस्सेदारी को बढाए । और जातिप्रथा के निर्माताओं की यह सोच कि - वे कुछ शाश्वत कोटियों की रचना कर रहें है, परास्त हो । उन्हें संपूर्ण रूप से पराजित करने से बड़ा सुख इस समय भारत में क्या हो सकता है ?

1.7 समकालीन दलित साहित्य

सामाजिक कुरूपताओं का बेबाक चित्रण करके समाज को उन बुराइयों के बारे में बताकर उससे बचाए रखना साहित्य का पहला फ़र्ज है, क्योंकि साहित्य सिर्फ़ समाज का दर्पण ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का आधार है । दलित साहित्य ने यह कार्य बखूबी किया है । अनेक वाद-विवादों तथा बहसों के चलते हुए भी दलित-साहित्य के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता । दलित साहित्य की निरंतर चल रही रचनाधर्मिता सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार बनती जा रही है । दलित साहित्य को अनेक प्रश्नों और विवादों में रखकर पता नहीं आज भी क्यूँ सवर्ण दलितों के प्रति अपनी घृणा को प्रदर्शित करते हैं ? क्यूँ दलित साहित्य की सार्थकता के सामने सवालिया निशान लगाकर उसको नकारात्मक साहित्य सिध्ध करने पर तुले हैं ? दलित साहित्य के साहित्यकार संबंधी विवाद तो अब जग प्रसिध्ध हो गया है । दलित साहित्य को नकार का साहित्य बताते समय वे तनिक भी नहीं सोचते हैं कि यह साहित्य कल्पना एवं सपनों के अदृश्य आधारों पर नहीं, बल्कि स्वानुभूति के ठोस धरातल पर टिका हुआ है, और दलितों की स्वानुभूति में हकारात्मकता की खोज ही मूर्खता दिखाई देती है । और जब स्वानुभूति ही इसका प्राणतत्व है तो गैर दलित के द्वारा दलित साहित्य लिखना कितना सार्थक सिध्ध होगा ? अत: यह प्रश्न ही व्यर्थ सिध्ध होता है । आज के समय में दलित साहित्य एक नवोदित विधा का रूप धारण कर चुका है और इसकी प्राणाधार शक्ति दलित-चेतना और दलित

अस्मिता शोषण-अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करने की प्रेरणा दे रही है । दलित साहित्य सामाजिक क्रांति का शंखनाद करनेवाला साहित्य है । "सामाजिक परिवर्तन के मद्देनज़र सृजित दलित कविता, कहानी, लघुकथाएँ, उपन्यास, नाटक, स्मृति-चित्र,निबंध, आत्मकथाएँ आदि शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित,अपमानित, उपेक्षित जनसाधारण की आवाज बनी है जो अपमान के फलस्वरूप उपजी है । अतः इनमें न केवल संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह के अंकुर है बल्कि परिवर्तित मानसिकता को भी उजागर करती है । इसमें एक ओर दलित जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण समाहित है तो साथ ही साथ दूसरी ओर इसके तेवर समाज को चुनौती भी देते है ।'' [33]

1.8 दलित साहित्य बनाम हिन्दी साहित्य

साहित्य की रचना बहुजन हिताय बहुजन सुखाय ही होती है । साहित्य समाज के विकास का औजार भी माना जाता है अत: उस साहित्य में इतनी शक्ति या ताकत तो होनी ही चाहिए कि वह सामाजिक विषमताओं से समाज को उबारे । "गुरुवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि साहित्य मनुष्य के लिए सुख-शांति, सदभावना, ज्ञान-विज्ञान एवं उत्थान के लिए लिखा जाता है । वह यदि अमानवीय, अंधविश्वास, अवैज्ञानिक भेदभाव पूर्ण रुढ़ियों पर आधारित हो तो वह साहित्य नहीं बल्कि एक शैतान है । उसे अग्नि में समर्पित करना ही श्रेयस्कर होगा ।" [34]

यदि गुरुवर के इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में मनु:स्मृति या वे सब धार्मिक ग्रंथों और महर्षि दयानंद सरस्वती के सत्यार्थ प्रकाश को देखा जाए जिनमें मनुष्यों-मनुष्यों में भेद कर सवर्णों को शूद्रों पर अमानवीय अत्याचार करने की प्रेरणा एवं अधिकार दिये गए हैं, वे ग्रन्थ साहित्य ही नहीं गिने जा सकते और उन्हें जला देना ही उचित सिध्ध होता है ।

स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श हिंदी साहित्य के प्रिय विषय बन रहे है क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर हिन्दी साहित्यकार या तो जानते ही नहीं है, या जान-बूझकर

छिपाना चाहते हैं। दलित, दमित एवं शोषित तथा प्रताड़ित वर्गों के प्रति समाज की सहानुभूति का व्यापारीकरण करना तो कोई इनसे ही सिखे। इस सहानुभूति की रोटी खाकर भी वे इसके मूल तक जाने से कतराते हैं। काल्पनिक उड़ानों के सहारे चाँद-तारों की यात्रा एवं भ्रामक प्रेम में लीन होकर सुंदर उद्यान-विहार के साथ-साथ शोषित पीड़ित वर्गों का चित्रण इन साहित्यकारों के लिए एक बानगी ही बनी रही है। हिन्दी साहित्यकारों ने दलितों की पीड़ा-वेदना को एक (Refreshment) के रूप में ही चित्रित किया है। और वे यही चाहते हैं कि दलित और उनकी वेदना-पीड़ा बनी रहे ताकि प्रेम, सौंदर्य, आध्यात्मिकता एवं आत्मश्लाघा से मन भर जाने पर इसी बहाने मनोरंजन का विकल्प खुला रहे। यदि दलितों पर दमन और अत्याचार बंद हो गए तो वे किन विषयों पर अपनी लेखनी को refresh करेंगे ? हिन्दी साहित्यकार भी आखिर तो एक हिन्दू ही है, जो धर्म को जीता है। और जब धर्म ही अधिकारविहीन हिन्दू को असंस्कारित हिन्दू या 'शूद्र' का 'ख़िताब' दे, स्मृतियों के माध्यम से इन्हें सभी प्रकार के श्रम साध्य कार्यों में संलग्न बताए और निकृष्ट कार्यों से लेकर सामाजिक बहिष्कार तक इन पर थोप दे ऐसे धर्म के अनुयायियों से मानवीय समानता के आधार पर मानवोचित व्यवहार की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ? और शायद इसीलिए दलित एवं दलित साहित्य को सवर्ण साहित्यकार घृणा एवं तिरस्कार की नज़रों से देखते रहें हैं। हिन्दी साहित्यकारों में शीर्ष स्थान पर विराजमान एवं प्रखर आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा वर्षों के अनुभव और लेखन के बावजूद भी दलित साहित्य को नकारते हैं। उनका कहना है कि - "दलित साहित्य साहित्य नहीं है। यह जाति विशेष का साहित्य है और इससे कोई भी परिवर्तन या आन्दोलन नहीं हो सकता और न ही इससे मजदूरों की भलाई हो सकती है।"[35] निश्चित रूप से यह विधान महान साहित्यकार रामविलास शर्मा का नहीं, लेकिन उनमें छिपे कट्टरपंथी एवं धर्म जनूनी हिन्दू का है। धार्मिक मान्यताओं के चलते ही वे पुरानी वर्ण-व्यवस्था के पोषक हैं और इसीलिए वे ब्राह्मण की श्रेष्ठता का डंका पीटते हुए दलित साहित्य को साहित्य मानने से ही इन्कार करते

हैं । हकीकत यही है कि आज प्रगतिशीलता का चोंगा पहने हुए बड़े से बड़े साहित्यकार भी अपनी नसों में बहते खून से जातिवाद के कीटाणु को नहीं निकाल पा रहे हैं। साहित्यकारों की यही कमज़ोरी हिन्दी साहित्य को साहित्योचित उद्देश्यों से विचलित करती रही है । और इसके परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य के लिए दलितोष्कर्ष का कार्य अछूता ही रह गया जान पड़ता है ।

हिन्दी साहित्य के द्वारा तिरस्कृत दलित वेदना और धार्मिक प्रमाणों से प्रतिपादित जाति-भेद की समस्याओं का वर्णन दलितों ने खुद ही करना प्रारंभ किया और आंबेडकर के विचारों ने इस क्रांति-ज्वाला को हवा दी और फलतः दलितों के द्वारा रचा गया दलित साहित्य अस्तित्व में आया । अपनी रचनाओं में दलित साहित्यकारों ने भोगे हुए यथार्थ का बेबाक चित्रण किया । कल्पना विहार एवं आत्मश्लाघा के बजाय स्वानुभवों की ठोस आधारशिला रखकर अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों का विरोध किया । और यही यथार्थवादिता दलित साहित्य का सबसे मजबूत पहलू बना । "भक्तिकाल के महान धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों जिनमें संत रविदास, संत कबीर एवं संत गुरु नानक प्रमुख थे । भक्तिकाल में रविदास, कबीर, घन्ना जाट आदि हुए जिन्होंने जातिवाद के विरुध्ध अच्छे-अच्छे पंडितों को अपनी वास्तविक आध्यात्मिकता का सही रूप दर्शाते हुए, धराशायी करते हुए साहित्य की रचना की।" 36

दलितों ने अपनी वैचारिक क्षमताओं के आधार पर सवर्ण-समाज से अधिकारों की प्राप्ति हेतु साहित्यिक आंदोलन छेड़ दिया। और बाद में डॉ. आम्बेडकर ने घोर अध्ययन के पश्चात अपने विराट साहित्य में इन विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान की। दूसरी ओर सवर्ण आरोप लगाते रहे हैं कि यह तो नकार का साहित्य है, संघर्ष ही व्यक्त करता है और प्रेम और मानवीयता का अंश भी इसमें प्राप्त नहीं होता है। यह केवल जातिवादी साहित्य है और अपने ऊपर हुए अत्याचारों का रोना-धोना ही मात्र है, इसलिए ही सौंदर्यवादी साहित्य के मापदंडों को सामने रख इसे साहित्य मानने से ही इन्कार करते रहे और इन सब आरोपों एवं विवादों के द्वारा अपनी

अल्पबुध्धि एवं अपने मन में आज भी पल रहे मनुवादी विचारों का प्रदर्शन करते रहे। उन्होंने एक पल के लिए भी यह नहीं सोचा कि दलित जीवन में सकारात्मकता का अस्तित्व ही संभव नहीं है । दु:ख-पीड़ा-यातनाओं के बीच साहित्यिक सुंदरता या शब्दों की मायाजाल और नवरसों की खोज कभी सफल नहीं हो सकती ।

दलित साहित्य में नकार की भावना मिलती है, क्योंकि यही नकार उनके संघर्ष का प्रस्थान बिंदु है । और उनका संघर्ष भी ज़मीन या अपने प्रेम-प्यार या प्रेमिका को पाने के लिए नहीं बल्कि मानवोचित अधिकारों की प्राप्ति द्वारा समभाव युक्त समाज के निर्माण हेतु ही है । अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों का वर्णन पाठकों के भावनात्मक शोषण हेतु रोना-धोना नहीं है, बल्कि समाज को उसका प्रतिबिंब दिखाकर मानसिक परिवर्तन का प्रयास है, क्योंकि उनका संघर्ष व्यक्ति या सवर्ण जातियों के खिलाफ़ नहीं है, बल्कि मान्यताओं और विचारधाराओं के खिलाफ़ है और मानसिक परिवर्तन ही इसका एक मात्र उपाय है । दलित साहित्य भले ही साहित्यिक मापदंडों पर उतना खरा नहीं उतरता लेकिन एक साहित्योचित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के मामले में सर्वोपरि है, इस बारे में दो मत हो ही नहीं सकते । दलित साहित्य समतावादी साहित्य है जिसके केन्द्र में मानव है । और इस मामले में हिन्दी साहित्य की मर्यादाएँ सामने आ जाती हैं , क्योंकि हिन्दी साहित्य धर्म पूजक है जब कि दलित-साहित्य मानव को पूजता है । हिन्दी साहित्य में धार्मिक एवं वैयक्तिक महानताओं को सिध्ध करने का प्रयास है, जब कि दलित साहित्य मानवता का पक्षघर है ।

यदि इस दृष्टि से देखे तो विश्वबन्धुत्व का स्वर मानवकेन्द्री दलित साहित्य में ही ज्यादा स्पष्ट एवं मुखर प्रतीत होता और वैश्विक परिवर्तन के चलते नारी एवं दलित लेखन ने इसी मामलों में भारतीय साहित्य के सामने हर स्तर पर चुनौती खड़ी कर दी है ।

1.9 दलित साहित्य का भविष्य

जैसे कि हम पहले ही बात कर चुके हैं कि दलित एवं नारी साहित्य आज के समय में अत्यंत तेजी से विकास कर रहे हैं। आलोचकों एवं बुध्धिजीवियों के ये प्रिय विषय भी बने हुए हैं। रचनाधर्मिता की दृष्टि से दलित साहित्य में हर रोज एक-एक करके नये अध्याय जुड़ते जा रहे हैं। दोनों विषयों को लेकर देश में बडे पैमाने पर संगोष्ठियाँ, वर्कशॉप आदि आयोजित हो रहे हैं । कहना न होगा कि आज का समय दलित-साहित्य का स्वर्ण-युग है। जहाँ चारों और उसीके चर्चे सुनाई देते हों। जिस रफ़्तार से दलित साहित्यकार एवं दलित रचनाओं की संख्या में वृध्धि हो रही है, उससे निःसंदेह लगता है कि दलित साहित्य का आनेवाला कल अत्यंत समृद्ध एवं सुनहरा होगा और सही अर्थों में वह 'दलित' साहित्य नहीं रह जायेगा। इसलिए निश्चित ही यह समय दलित साहित्य प्रेमियों के खुश होने का समय हे। लेकिन इसके साथ- साथ यह बात भी ध्यानदेने योग्य है कि ऐसे समय में साहित्यकारों की जरा-सी चुक या उनकी वैचारिकता में मामूली सी पथभ्रष्टता दलित साहित्य को विनाश की अनंत गर्ता में भी धकेल सकती हे। दलित साहित्य के भविष्य सबंधी कुछ सोचनीय प्रश्न उठते रहे हैं कि -

(१) क्या कुछ अरसे के बाद दलित साहित्य चूक नहीं जायेगा ?

(२) एकरस या मोनोटोनस तो नहीं हो जाएगा ?

दलित साहित्य के विकास की रफ़्तार से यह स्पष्ट है कि आनेवाले समय में वह एक सार्थक साहित्य सिध्ध होगा। ऐसे समय में क्या दलित साहित्यकार इस सफलता को 'झेल' सकेंगे ? क्या उत्साह के अतिरेक में वे आत्मविश्वासी से निकलकर अभिमानी तो नहीं बन जाएँगे ?

दलित साहित्य की प्राणाधार शक्ति है स्वानुभूति। सभी दलित साहित्यकारों की अनुभूतियों में समानता होने का डर इसलिए है कि समाज के द्वारा वे सब समान रूप से पीड़ित एवं प्रताड़ित होते रहे हैं। अत: अनुभवों की समानता का डर भी बना रहेगा। क्योंकि दलित साहित्यकार अपने अनुभवों का ही वर्णन अपनी

रचनाओं में करता है । इसलिए अनुभवों की पुनरावृत्ति की वजह से दलित साहित्य की मौलिकता संदेह के दायरे में आ सकती है ।

दलित साहित्य के विषय-वस्तु सीमित है । दलित ही उसका केन्द्र है अतः विषय-वस्तु की विविधता न मिलने से दलित साहित्य के एकरस या मोनोटोनस बन जाने का खतरा भी है ।

इन सभी प्रश्नों एवं खतरों के विषय में सोचें तो लगता है कि आनेवाले समय में दलित साहित्यकारों की प्रतिबध्धता एवं प्रामाणिकता की अग्निपरीक्षा होनेवाली है । और इसमें सफल होकर ही दलित साहित्य अपना इच्छित लक्ष्य पा सकेगा । उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में कहा जा सकता है कि दलित साहित्यकार के अनुभवों में 'मैं' की नहीं बल्कि 'हम' की पीड़ा है, वह वैयक्तिक नहीं बल्कि जातीय पीड़ा का वर्णन करता है । इसलिए अनुभवों की समानता का प्रश्न ही नहीं आता । जिसे सफलता की आदत पड़ गई हो, जो सफलता के लिए ही रचना करता हो उसके लिए सफलता मतिभ्रम का कारण बन सकती है । दलित साहित्यकार सफलता प्राप्ति हेतु नहीं बल्कि अपने समाज के उध्धार के लक्ष्य को लेकर रचनाएँ करता है । इसीलिए उसका पथभ्रष्ट होना आसान नहीं । वह स्वाभिमानी बन सकता है, अभिमानी नहीं ।

तीसरा प्रश्न या खतरा विषय-वस्तु को लेकर है । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि विषय-वस्तु भले ही सीमित हो लेकिन वर्णन वैविध्य भी तो कोई चीज होती है । एक ही विषय को अलग-अलग तरीकों से वर्णित किया जा सकता है । और हर रचनाकार की वर्णन क्षमता एवं वर्णन कला अलग-अलग होती है । इसलिए वर्ण्य विषय की सीमितता साहित्य के लिए रूकावट कभी नहीं बनती । शायद यही कारण है कि रामायण मोनोटोनस नहीं हो गया । और दलित साहित्य के लिए तो यह अभी प्रारंभिक दौर है इसलिए ऐसे विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता ।

1.10 दलित मुक्ति के पथ पर

मानवमात्र मुक्ति का आकांक्षी होता है । मानव समाज मुक्ति या स्वतंत्रता को चाहनेवाला समाज है । दलित मुक्ति एक व्यापक संकल्पना है और इसे हक़ीकत बनाने के लिए समाज सुधारक, साहित्यकार, सामाजिक संस्थाएँ अपनी-अपनी तरह से कार्य कर रहे हैं । दलित समाज ने इस मुक्ति को प्राप्त करने में कुछ हद तक सफलता पाई है लेकिन उसे पूरी कामयाबी नहीं मान सकते, इसमें कई अड़चने हैं । दलित मुक्ति के रास्ते में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियाँ रुकावटें बनी हैं । " आज दलितों के सामने बाबा साहेब जैसे उच्च त्यागी आदर्श का अभाव होना, दलित नेताओं में संगठन की कमी, खंडित दलित दल, स्वार्थी दलित नेता, स्वजनों की उपेक्षा, पहनावा-आचार-विचार में होनेवाला परिवर्तन, समाज से अच्छा होने का प्रमाण होना, दलित शिक्षित बना मगर संगठित नहीं, शिक्षा पाई संघर्ष को भूल बैठा, महामानवों के विचारों से दूर जाने की मनोवृत्ति, महामानवों को भगवान बना कर दीवारों में बंध करने की नीति, जयंति मनाने की होड़ है , लेकिन आदर्शों को खो बैठे, परंपरागत जीवन पध्धति से चिपकने की प्रवृत्ति ग्रामीण दलितों में चेतना का अभाव, नई शिक्षा, नए व्यवसाय अपनाने का अभाव, पलायनवादी मनोवृत्ति, ज्ञातिजनों को भूलने की अमानवीय प्रवृत्ति सामंजस्य एवं सहयोग का अभाव, सत्ता को सेवा का साधन मानने की कमी आदि दलित मुक्ति की अड़चने हैं ।" [37]

दलित मुक्ति पाना चाहते हैं तो उन्हें इन सब बाधाओं को दूर करना ही पड़ेगा। उपरोक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें आत्मसंघर्ष ही जरुरी है । दलितों में शिक्षा के प्रसार से उसकी मानसिकता में परिवर्तन आया है वहीं सवर्ण वही परंपरागत मनोवृति के शिकार हैं साथ ही समाज में सांप्रदायिक तत्वों का प्रभाव भी बढ़ रहा है । इन सब के कारण विकास के साथ-साथ समस्याएँ भी खड़ी हुई हैं । आज का शिक्षित एवं समृध्ध दलित अपनी जाति छिपाने का प्रयास कर रहा है और अपने ही ज्ञातिबंधुओं को हीन मानता है, जिसे रोकना बहुत जरुरी है । वैचारिक संघर्ष का स्थान आज भौतिक संघर्ष ने ले लिया है आगजनी, प्रतिमाओं की तोड़फोड़ आदि से दलितों को बचना चाहिए ।

दलितों को चाहिए कि वे भ्रष्ट राजनेताओं के द्वारा गुमराह न हो और चुनाव के समय पर सहानुभूति दिखाकर वोट एठनेवाले नेताओं को साथ न दे । गाँव के दलितों को अपने परंपरा एवं रूढ़ी प्रेम को त्यागकर मानसिक परिवर्तन के द्वारा अपना विकास करना चाहिए । आरक्षण का लाभ तभी होगा जब जरूरतमंद गरीब दलितों को आरक्षण के लाभ दिये जाए समृध्ध-संपन्न दलितों को नहीं । संवैधानिक प्रावधानों का विवेकपूर्ण उपयोग अत्यंत जरूरी है । क्योंकि कानूनों के गलत उपयोग के द्वारा पैसे ऐंठने कि प्रवृत्ति पूरे दलित समाज की विपरीत छवि पेश करती है और इसके चलते सवर्णों में उत्पन्न हुई थोड़ी-बहुत संवेदना भी नष्ट हो जाती है । दलितोध्धार के लिए दलितों में नेता बनने कि होड़ चल पड़ी है लेकिन उन्ही नेताओं में आपस में संगठन की कमी दिखाई देती है । ऐसे दलित नेता किसी की भलाई नहीं कर सकते । विभिन्न दलित नेताओं और दलित दलों को एक-साथ मिलकर कार्य करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है । इन संगठनों में समन्वय का अभाव दलित मुक्ति के कार्य को बाधित करता है । इसलिए दलित अगर सचमुच मुक्ति का आकांक्षी है तो उसे अज्ञान, अंधश्रद्धा और पिछलग्गूपन को त्यागकर अपने विकास की ओर दृष्टि रखते हुए एक-दूसरे के साथ मिलकर चिंतन के आधार पर समस्याओं का समाधान ढूँढना पड़ेगा । तभी जाकर दलित मुक्ति का डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर का सपना साकार होगा ।

दलितों को अपने विकास या उत्थान के लिए समाज पर आधारित रहने की बिलकुल जरुरत नहीं है, अपना विकास स्वयं उनके हाथों में ही है । आत्ममंथन एवं आत्मपरिवर्तन ही विकास हेतु संघर्ष का सच्चा स्वरूप प्रतीत होता है । अपने आप को बदलकर ही ज़माने से परिवर्तन की अपेक्षा की जा सकती है । वैचारिक संघर्ष भी खुद से ही किया जाए यह ज्यादा श्रेयष्कर जान पड़ता है ।

यदि समाजिक समानता के सपने को हकीकत बनाना है, तो दूर-दूर खड़े गाँधी और आंबेडकर को एक-दूसरे के निकट लाने का संनिष्ठ प्रयत्न करना होगा । समय विशेष और खास परिस्थितियों में इन दोनों के रिश्तों में उगे झाड़-झंखाड़ और

फालतू कटुताओं और व्यर्थ विवादों की धुल को साफ करना आवश्यक है। दूसरी ओर यदि दलित चाहता है कि व्यापक समाज के साथ उनके मानवीय संबंध कायम हों, रोटी-बेटी का रिश्ता बने तो निश्चित ही इसके लिए एक व्यापक, उदार और प्रगतिशील दलित दर्शन की आवश्यकता होगी।

* निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय के समग्रावलोकन द्वारा निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि –

1. हिन्दू धर्मशास्त्रों में धर्म की आडंबरपूर्ण मनोवृत्तियों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन एवं उससे समाज में उपजी विसंगतता ने समाज में एक उच्छृंखलता का निर्माण किया है, जिसके विरोध में लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है।
2. साहित्य के सौन्दर्यशास्त्रीय मापदंड दलित साहित्य के मूल्यांकन हेतु कमजोर एवं अनुचित प्रतीत होते हैं, क्योकि आत्मक्रंदन में 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' संभव नहीं। अत: दलित साहित्य के हेतु अलग सौदर्य-शास्त्र की माँग उचित जान पड़ती है।
3. दलित साहित्य एक सामाजिक आन्दोलन है, अत: उसके रचनाकार यदि दलित समाज से ही हो, तो वे अपनी रचनाधर्मिता को न्याय दे सकेंगे। इसीलिए रचनाकार संबंधी विवादों एवं बहसों के द्वारा दलित साहित्य को 'दलित' साहित्य बनाए रखने के प्रयास नहीं होने चाहिए।
4. महामानवों के दलितोध्धार के प्रयत्न तभी सफल होंगे जब व्यापक समाज अपनी मानसिकता को बदलने की कोशिश करेगा और दलित अपनी पुरानी पहचान से बहार आने का प्रयत्न करेगा।
5. आज के समय में दलितों का उत्कर्ष भ्रामक तथ्य है, अभी भी कहीं न कहीं दिल के किसी न किसी कोने में मनु विराजमान है और इसीलिए कथित सवर्ण समाज दिल से दलितों का स्वीकार नहीं कर पाता है।

6. नारकीय जीवन की घोर त्रासदियों से मुक्ति पाने हेतु दलितों को और शिक्षित, और संगठित एवं और संघर्षशील बनना आवश्यक है और आत्ममंथन ही इस संघर्ष का प्रस्थान बिंदु होना चाहिए।
7. दलित साहित्य अत्यंत तेजी से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है और अपने लक्ष्य-सामाजिक एवं वैचारिक क्रांति के नजदीक पहुँच रहा है।
8. हिन्दी साहित्यकार, आलोचक एवं बुद्धिजीवी वर्ग भी दलित साहित्य को नकारते हैं और उसकी कमियों को प्रदर्शित करके दलित साहित्य को हीन एवं अन्य सवर्ण साहित्य को श्रेष्ठ सिध्ध करने का प्रयास करते हैं ।
9. दलित साहित्य के बढ़ते प्रभाव के चलते हिन्दी साहित्य के सामने चुनौती खड़ी हो गयी है और इसी वजह से दलित साहित्य को अनेकविध प्रश्नों एवं संदेहों के दायरों में रखने के प्रयास हो रहे हैं।
10. एकरसता से बचने के लिए दलित साहित्यकारों को अपने विषयों में वैविध्य लाना चाहिए और साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएँ कर अपनी रचना क्षमता का परिचय देना चाहिए।
11. दलित साहित्य के उद्देश्यों की स्पष्टता ही दलित साहित्यकारों को विपथगामी होने से बचा सकती है | यह अत्यंत आवश्यक है क्योंकि , दलित साहित्य आज अत्यंत नाजुक समय से गुजर रहा है , ऐसे समय में साहित्यकारों की जरा-सी चूक दलित साहित्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है और अब तक का सारा कार्य व्यर्थ या विफल हो सकता है |

◈

संदर्भसूची :

1. ‘ हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा ’, माताप्रसाद , विश्वविद्यालय प्रकाशन , वाराणसी , 1993 , पृष्ठ - 4
2. ‘ दलित साहित्य : एक मूल्यांकन ’, प्रो. चमनलाल , राजपाल प्रकाशन , दिल्ली, पृष्ठ – 14
3. ‘ दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र ’, डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि , राधाकृष्ण प्रकाशन , नई दिल्ली , पृष्ठ – 13
4. ‘ अनुशीलन ’, डॉ. पूर्णिमा सत्यदेव , पृष्ठ – 28
5. ‘ दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र ’, डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि , राधाकृष्ण प्रकाशन , नई दिल्ली , पृष्ठ – 15
6. ‘ दलित साहित्य : एक मूल्यांकन ’, प्रो. चमनलाल , राजपाल प्रकाशन , दिल्ली, पृष्ठ – 15
7. ‘ युद्धरत आदमी ’ , डॉ. कँवल भारती (अंक 41-42), 1998 , पृष्ठ – 15
8. ‘ दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र ’, डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि , राधाकृष्ण प्रकाशन , नई दिल्ली , पृष्ठ – 15
9. ‘ भारतीय दलित साहित्य : परिप्रेक्ष्य , संपादक – पुन्नी सिंह , कमला प्रसाद , राजेंद्र शर्मा, दलित साहित्य उद्देश्य और वैचारिकता, बाबुराव बगुल, पृष्ठ-25
10. ‘ दलित विमर्श ’ , डॉ. नरसिंहदास वणकर , पृष्ठ – 61
11. ‘ दलित साहित्य : एक मूल्यांकन ’,प्रो. चमनलाल, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ – 11
12. ‘वसुधा’, दलित साहित्य की परिभाषा और सीमाएँ, रमणिका गुप्ता, पृ.331
13. ‘दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र’, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली , 2009 ,पृष्ठ-52
14. ‘वसुधा’ दलित साहित्य की परिभाषा और सीमाएँ, पृष्ठ. 330-331

15. 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन , नई दिल्ली , 2009 , पृष्ठ-52

16. 'दलित साहित्य : एक मूल्यांकन', दलित साहित्य के प्रतिमान, प्रो. चमनलाल पृष्ठ-28

17. 'दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड , नई दिल्ली , २००९ , पृष्ठ-40

18. वही, पृष्ठ 36-37

19. दलित लेखन और सवर्ण रचना संसार मुद्राराक्षस, उत्तर-प्रदेश साहित्यिक वार्षिकी, जून, 1997, पृष्ठ 9

20. दलित साहित्य का आंदोलन और हिन्दी क्षेत्र, नया पथ, अंक 24-25, 1997, पृष्ठ 93-94

21. दलित साहित्य दिशा, दृष्टि और विचार, शिखर की ओर (सं. डॉ. एन.सिंह), 1997, पृष्ठ 344

22. हिन्दी दलित कविता, डॉ. रजत रानी 'मीनू', नवभारत प्रकाशन , दिल्ली , 2009, प्रथम संस्करण की भूमिका, राजेन्द्र यादव, पृष्ठ (v)

23. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन , नई दिल्ली , 2009 , पृष्ठ 44

24. 'सारे भारतीय समाज के मसीहा थे : डॉ. बी.आर. अम्बेडकरजी', जसविन्द्र ढड्डा, आश्वस्त , अप्रैल-2010, पृष्ठ 2

25. भारतीय दलित साहित्य : परिप्रेक्ष्य, संपादक : पुन्नी सिंह, कमला प्रसाद, राजेंद्र शर्मा, पृष्ठ 50

26. 'संघर्ष के लिए आंदोलन का शंखनाद' नरेन्द्र मेश्राम, आश्वस्त-अंक-अप्रैल-2010, पृष्ठ : 10

27. भारतीय दलित साहित्य : परिप्रेक्ष्य , संपादक : पुन्नी सिंह, कमला प्रसाद, राजेंद्र शर्मा, पृष्ठ : 509

28. दलित कथा विमर्श : डॉ. कांति मालसतर, अध्याय-2 : दलित अतीत से वर्तमान, पृष्ठ : 33

29. वर्तमान पत्र- पंजाब केसरी : दिनांक-11/08/2009, दिल्ली ।

30. दैनिक भास्कर, 8 मई 2009, जयपुर, पृष्ठ : 07

31. जनसत्ता : 08/08/2009, दिल्ली ; महका भारत : 06/08/09, जयपुर

32. नागसेना (साप्ताहिक), 28/03/2009, 12 विदर्भ कोलोनी, चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)

33. सामाजिक परिवर्तन का आधार दलित साहित्य : डॉ. तारा परमार : आश्वस्त (मासिक), फरवरी-2010, पृष्ठ : 1

34. दलित साहित्य की हकीकत और उसकी चुनौती, श्री प्रकाश सिंह निमराजे, आश्वस्त (मासिक), अक्टूबर-2009, पृष्ठ : 2

35. दलित आंदोलन के विविध पक्ष, डॉ. शत्रुघ्न कुमार, पृष्ठ : 19-20

36. दलित साहित्य की हकीकत और उसकी चुनौती, श्री प्रकाश सिंह निमराजे, आश्वस्त (मासिक), अक्टूबर-2009, पृष्ठ : 6

37. दलित मुक्ति एवं आज के सवाल, डॉ. बी.डी.सगरे, आश्वस्त (मासिक), सितम्बर-2009, पृष्ठ : 5